International Journal of Sanskrit Research 2022; 8(3): 295-298

International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519
IJSR 2022; 8(3): 295-298
© 2022 IJSR
www.anantaajournal.com
Received: 24-03-2022
Accepted: 06-05-2022

डा. प्रतिभा
सहायक प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू, जम्मू और कश्मीर, भारत

Corresponding Author:
डा. प्रतिभा
सहायक प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू, जम्मू और कश्मीर, भारत

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में आदर्श गार्हस्थ

डा. प्रतिभा

प्रस्तावना

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास इन चार आश्रमों में सबसे श्रेष्ठ आश्रम गृहस्थाश्रम ही है, जहाँ सत्यं, शिवं और सुन्दरं का एक साथ निवास है। सुख, आनन्द और माधुर्य की प्राप्ति के साथ-साथ मानव इसी आश्रम में प्रेम, दया, ममता, सहिष्णुता, नैतिकता, सदाचार, साधना, सेवा, समर्पण तथा धैर्य की परीक्षा देता हुआ एक-दूसरे के सहयोग व सम्बल द्वारा बड़े उत्साह के साथ जीवनपथ पर आगे बढ़ता है।

सर्वाधिक उत्तरदायित्वों, कर्त्तव्यों और विभिन्न मर्यादाओं में बन्धे होने के कारण शास्त्रों में इस आश्रम के सम्बन्ध में विशद वर्णन प्राप्त होता है। ऋषि दयानन्द सरस्वती ने भी इस आश्रम के सम्बन्ध में विस्तृत प्रतिपादन और प्रशंसा भी की है। वे लिखते हैं -

"गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है, अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है। इसलिए जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो वह प्रयत्न से गृहाश्रम का धारण करे, ... जितना कुछ व्यवहार संसार में है उसका आधार गृहाश्रम है। ..... जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है वही निन्दनीय है और जो प्रशंसा करता है वहीं प्रशंसनीय है।"[1]

ऋषि ने अपने अन्य ग्रन्थों में तो गृहस्थाश्रम के सम्बन्ध में प्रकाश डाला ही किन्तु गार्हस्थ्य के लिए अलग से संस्कारविधि का प्रणयन किया जिसमें चार संस्कारों को छोड़कर शेष बारह संस्कारों को गृहस्थियों के लिए लिखा। उसमें भी गृहस्थाश्रम को संस्कार मानते हुए सौ से भी अधिक पृष्ठ विवाह तथा गृहस्थाश्रम के सम्बन्ध में लिखे।

निःसन्देह गार्हस्थ्य का एक उद्देश्य अर्थोपार्जन द्वारा सुखप्राप्ति भी है। ऋषि दयानन्द भी इसका समर्थन करते हुए गृहाश्रम संस्कार के आरम्भ में लिखते हैं- "गृहाश्रम संस्कार उसको कहते हैं कि जो ऐहिक और पारलौकिक सुखप्राप्ति के लिए विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना।"[2] इसी संस्कार में अथर्ववेद के तृतीय काण्ड के तीसवें वर्ग के द्वितीय मन्त्र को प्रस्तुत करते हुए ऋषि ने बताया कि गृहस्थी मनुष्यों को चाहिए कि वे सौ वर्ष तक पुत्रों-नातियों के साथ क्रीड़ा करते हुए उत्तम गृह वाले आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीति पूर्वक वास करें।[3]

इसी संस्कारविधि में अन्यत्र भी लिखते हैं - हे गृहस्थ लोगो! उत्तम जल, दूध और इसका शोधन और युक्ति से सेवन घृत, दुग्ध, मधु आदि और इसका युक्ति से आहार-विहार उत्तम चावल आदि अन्न और उसके उत्तम संस्कार किये खाने के योग्य पदार्थ और उसके साथ उत्तम दाल, शाक, कढ़ी आदि ..... प्रजा की उत्पत्ति पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी, गाय आदि पशुओं का पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी चाहिए।

ऋषि दयानन्द ने गृहस्थी जनों के लिए दिव्य कमनीय और विस्तृत घर बनाने का भी उल्लेख किया। 'अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये।'[4] आदि मन्त्रों को प्रस्तुत करते हुए, दो कमरों, चार कमरों, छह कमरों, आठ कमरों तथा दस-दस कमरों वाले भवन बनाने के साथ-साथ वृक्ष, फूल तथा कमल खिले सरोवर की व्यवस्था करने का भी वर्णन किया। गृहस्थाश्रम में मनुष्य भौतिक ऐश्वर्य व सुखमय जीवन अवश्य व्यतीत करे किन्तु स्वार्थी व अहंकारी न हो बल्कि परोपकारी व दानी हो। ईश्वर, धर्म और वेदादि शास्त्रों के स्वाध्याय में दृढ़ आस्था हो, घर-घर में 'इदं न मम ' और 'स्वाहा' की गूँज सुनाई दे। कोई अतिथि व जीव-जन्तु भूखा न रहे। माता-पिता, वृद्ध तथा विद्वज्जनों का सम्मान और सेवा हो। इसलिए ऋषि ने गृहस्थी जनों के लिए पंच महायज्ञों को आवश्यक बताया। सत्यार्थप्रकाश में मनुस्मृति का प्रमाण देते हैं-

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञंच यथाशक्ति न हापयेत्।।[5]

प्रथम यज्ञ के सम्बन्ध में लिखते हैं- 'एक वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासन, योगाभ्यास'[6] वस्तुतः ऋषि ने गृहस्थीजनों के लिए चारों वेदों का ज्ञान, चार नहीं तो तीन, तीन नहीं तो दो, और दो भी नहीं तो कम से कम एक वेद का ज्ञान होना आवश्यक बताया। इसके लिए वे मनुस्मृति का निम्न प्रमाण प्रस्तुत करते हैं-

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्।।[7]

द्वितीय देवयज्ञ का अर्थ दैनिक अग्निहोत्र के साथ-साथ विद्वानों का सग्-सेवा, पवित्रता, दिव्यगुणों का धारण, दातृत्व, विद्या की उन्नति करना भी ऋषि ने बताया।

तृतीय पितृयज्ञ के सम्बन्ध में वे लिखते हैं- 'पितृयज्ञ' अर्थात् जिसमें देव जो विद्वान्, ऋषि जो पढ़ने-पढ़ाने हारे, पितर जो माता-पिता आदि वृद्ध ज्ञानी और परमयोगियों की सेवा करनी।

चतुर्थ वैश्वदेव और पंचम यज्ञ है अतिथियज्ञ। ऋषि ने बिना तिथि बताए घर आने वाले धार्मिक, सत्योपदेशक सबके उपकारार्थ सर्वत्र घूमने वाले पूर्ण विद्वान् परमयोगी, सन्यासी को ही मुख्य अतिथि बताया है और साथ यह भी लिखा- 'समय पाके गृहस्थ और राजादि भी अतिथिवत् सत्कार करने योग्य हैं।' ऋषि दयानन्द ने मनुस्मृति के निम्न प्रमाण को प्रस्तुत करते हुए-

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत्।।[8]

अनकेशः यह बताया कि गृहस्थ लोग छोटों-बड़ों वा राजकार्यों के सिद्ध करने में कम से कम दश अर्थात् ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक, (नैयायिक) तर्ककर्त्ता, नैरुक्त, धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्थ विद्वानों अथवा अतिन्यूनता करे तो तीन वेद्वित् (ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ और सामवेदज्ञ) विद्वानों की सभा से कर्त्तव्याकर्त्तव्य धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो वैसा आचरण किया करें।

हमारे देश में धर्म के नाम पर भोले भाले गृहस्थियों को गुमराह करने वाले, अपने आपको धर्म के ठेकेदार व भगवान् बताने वाले वेदादि शास्त्रों से सर्वथा अनभिज्ञ सदाचार से शून्य पाखण्डी, स्वार्थी और लोभी लोगों की एक लम्बी शृंखला है। ये ही लोग धर्म के स्थान पर अधर्म, ढोंग, प्रदर्शन और व्यर्थ के आडम्बरों को प्रोत्साहन देते हुए अपना स्वार्थ साधने में लग हुए हैं। ऋषि ने ऐसे लोगों से गृहस्थी जनों को सावधान करते हुए कहा है-

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकान् शठान्।
हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्।।[9]

अर्थात् वेदनिन्दक, वेदविरुद्ध आचरण करने हारे जो वेद विरूद्ध कर्म का कर्त्ता मिथ्या भाषणादि युक्त जैसे विडाला छिप और स्थिर रहकर ताकता-ताकता झपट से मूषक आदि प्राणियों को मार अपना पेट भरता है, वैसे जनों का नाम वैडालवृत्ति, शठ अर्थात् हठी दुराग्रही, अभिमानी..... कुतर्की व्यर्थ बकने वाले, ... बकवृत्ति जैसे बगुला एक पैर उठा ध्यानावस्थित के समान होकर झट मच्छी के प्राण हरके अपना स्वार्थ सिद्ध करता है..... ऐसों का सत्कार वाणीमात्र से भी नहीं करना चाहिए।[10]

जैसे समस्त नदियाँ समुद्र में ही आश्रय पाती हैं उसी प्रकार सभी आश्रम तथा समस्त समाज गृहस्थ में ही आश्रय पाते हैं। अतः गृहस्थी जनों का प्रमुख कर्त्तव्य दान आदि से समस्त जनों का पालन पोषण करना है। किन्तु देवदयानन्द तपरहित, अनपढ तथा केवल लेते रहने के लिए ही इच्छुक जनों को दान देने का स्पष्ट निषेध करते हुए मनुस्मृति के निम्न प्रमाणों को प्रस्तुत करते हैं-

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरूचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनैव सह तेनैव मज्जति।।[11]
त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च।।[12]

अर्थात् विधिपूर्वक अर्जित धन भी यदि उक्त तीनों प्रकार के लोगों को दिया जाए तो लेने वाला दाता को भी साथ लेकर समुद्र में पत्थर की नौका पर बैठने के समान डूब जाएगा। ऐसे दाता का नाश इसी जन्म में और लेने वाले का नाश परजन्म में होता है।

ऋषि दयानन्द के आगमन से पूर्व देवी-देवताओं के चित्र या मूर्तियों की उपासना करना, उन पर दूध-फल आदि चढ़ाना और उनके जाप आदि करने को ही धर्म मान लिया गा था। साथ ही विदेशगमन न करना, अस्पृश्यता, विधवा-विवाह न करना, बाल-विवाह, सति-प्रथा आदि को भी धर्म का अग् मान लिया गया था। ऋषि ने धर्म की शास्त्रानुमोदित, व्यापक व्याख्या करते हुए बताया कि धर्म का सम्बन्ध दैनिक सद्व्यवहार से है। धर्म का वास्तविक तात्पर्य सत्याचरण है। तृतीय समुल्लास में वे लिखते हैं - 'जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्याग रूप आचार है उसी का नाम धर्म और इससे विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहण रूप कर्म है उसी को अधर्म कहते हैं गृहस्थाश्रम में रहते हुए इस सत्यधर्म का पालन अत्यावश्यक है, यह ऋषि ने बहुधा बताया। गृहस्थाश्रम संस्कार की व्याख्या करते हुए स्पष्ट लिखा - 'सत्यधर्म में ही अपना तन-मन-धन लगाना तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करनी।' 'चाहे सांसारिक अपने प्रयोजन की नीति में वर्तनेहारे चतुर पुरुष निन्दा करें वा स्तुति करें, लक्ष्मी प्राप्त होवे अथवा नष्ट हो जावे, आज ही मरण होवे अथवा वर्षान्तर में मृत्यु को प्राप्त होवे, तथापि जो मनुष्य धर्मयुक्त मार्ग से एक पग भी विरुद्ध नहीं चलते वे ही धीर पुरुष धन्य हैं।'

यह बात भी ऋषि भली-भाँति जानते थे कि गृहस्थाश्रम की महत्ता और श्रेष्ठता तभी है जब गृहस्थी जनों का परस्पर स्नेह सौहार्द तथा वैचारिक ऐक्य होगा। अतः ऋषि ने अपने ग्रन्थों में वेदमन्त्रों को प्रस्तुत करते हुए बड़े विस्तार से समझाया कि पुत्र माता और पिता के अनुकूल तथा माता-पिता भी पुत्रों के अनुकूल चलने वाले हों। भाई-भाई से द्वेष न करें और बहिन-बहिन से द्वेष न करे। देवताओं के समान सुख की रक्षा करते हुए 'सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु'[13] सन्ध्या और प्रातःकाल अर्थात् सब समय में एक दूसरे से प्रेम पूर्वक मिला करो। 'हे गृहस्थी जिस कुल में भार्या से प्रसन्न पति और पति से भार्या सदा प्रसन्न रहती है उसी कुल में निश्चित कल्याण होता है और दोनों परस्पर अप्रसन्न रहें तो उस कुल में नित्य कलह वास करता है।

वर्त्तमान युग में गृहस्थ रूपी वाटिका बिखरी हुई है। पूर्व सी खिलखिलाहट, रौनक, सुगन्ध, सौन्दर्य समाप्त है। हर पौधा मुरझाया-सा है। ऐसी दुर्दशा में ऋषि के उपर्युक्त सन्देश हो वसन्त बनकर पुनः इस वाटिका को हरा-भरा कर सकेंगे। सबसे ज्येष्ठ श्रेष्ठ, सबका आश्रय, सर्वाधिक उत्तरदायी गृहस्थाश्रम में रहते हुए हर पल सतर्कता और तत्परता की आवश्यकता है। धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझते हुए अपने कर्तव्यों पर फिर से दृष्टिपात करना होगा। हे गृहस्थी जनों ! ऋषि के ग्रन्थों का बार बार अध्ययन, चिन्तन और आत्म-मन्थन कीजिए, तभी यह गृहस्थाश्रम स्वर्गाश्रम बन सकेगा अन्यथा नहीं।

सन्दर्भ

1. सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास
2. संस्कारविधि
3. इहैव स्तं मावियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्
4. अथर्ववेद नवमकाण्ड

5. मनुस्मृति 4/21
6. सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास
7. मनुस्मृति 3/2
8. मनुस्मृति 12/110
9. मनुस्मृति 4/30
10. सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास
11. मनुस्मृति 4/190
12. मनुस्मृति 4/193
13. अथर्ववेद 3/30/7